पं. दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म दर्शन और राष्ट्र चिंतन ।

डॉ. संजय कुमार
प्रभारी, दीनदयाल उपाध्याय अध्ययन केंद्र
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय

सभ्य समाज में उद्दीप्त मानव विचारों का एक पुंज होता है, विचारों की प्रखरता से आबद्ध होकर ही संस्कारों का अभ्युदय होता है। मनुष्य के इन्हीं विचारों के संकेन्द्रण में कर्म की व्युत्पत्ति होती है, जो सामाजिक धरातल पर व्यष्टि और समष्टि, सभी के हितों का कारक होता है। भारतीय मनीषियों ने इन्हीं मानवीय हितों को संकेंद्रित कर विचार विमर्श की ऊचाइयों को छूने का प्रयास किया। इस विचार प्रवाह में यह सारतत्व प्राप्त हुआ कि उत्तम धर्म वह है, जहाँ सह-अस्तित्व से अभिप्रेरित एक सामंजस्यता हो। मनुष्यों के मध्य विकास का मार्ग खुला हो, जो परस्पर एक दूसरे के लिए साधक हो। समाज में धर्म न हो तो मानवीय कर्म सहित राज्य का स्थायित्व भी अनिश्चित हो जाता है। धर्म जीवन के सभी पहलुओं से संबंध रखने वाली चीज है जिसके मूलतत्व सनातन और सर्वव्यापी हैं और देशकाल परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार करते हैं। यही कारण है कि धर्म में हमारा विश्वास केवल उसकी सघनता के कारण नहीं अपितु वह स्वयंभू है। मानवीय मूल्यों की कल्पना एक यथार्थवादी और भेदविहीन दृष्टिकोण में करने वाले पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी का नाम भारतीय चिंतन धारा के विशिष्ट मनीषियों में

लिया जाता है। जिन्होंने मानव की यथार्थ कल्पना भेदविहीन रूप में करते हुए व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क, दृष्टि व आत्मा की सामूहिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। इनकी सामूहिक उपस्थिति में मानवीय मूल्यों व मानवीय संवेदनाओं को अभिकेंद्रित कर भारतीय संस्कृति, दर्शन व विचार को लक्षित कर मानव मात्र के कल्याण हेतु एकात्म मानववाद का विचार प्रस्तुत किया। दीनदयाल उपाध्याय दीर्घकालिक सोच के व्यक्ति थें। इन्होंने मानव जीवन के सम्पूर्ण परिदृश्य को अपने विचार अभिव्यक्ति में स्थान प्रदान किया तथा उसके जीवनकाल की समस्त जरूरतों को केन्द्रित कर अपने विचार संकल्पना को प्रस्तुत किया। पं. दीनदयाल जी का विचार दर्शन कोई रहस्य नहीं है अपितु यह प्रकृति से लिए हुए मौलिक विषय के तत्व हैं। यह विचार दर्शन हमारी संस्कृति, पूरी सृष्टि व समाज का ही नहीं वरन मानव मन, बुद्धि, आत्मा और तन (शरीर) का भी समुच्चय है। इन्होंने मानव स्वभाव को समझकर सुखी, शांत एवं मुक्त जीवन जीने की ऐसी पद्धति विकसित की, जो पूर्णतः वैज्ञानिक है।

भारतीय संस्कृति अपनी सनातनी संस्कृति की अविरल धारा लिए सहस्त्रों वर्षों से चली आ रही है। जिसमें निरंतर चेतना है और यह सतत जीवंत, गतिशील और स्पन्दनशील बनी हुयी है। भारतवर्ष अपनी संस्कृति और परंपरा के माध्यम से राष्ट्र जीवन के सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीय अस्मिता के चिंतन को प्रवाहित करती है। जिस प्रकार भारत की पवित्र नदी गंगा गंगोत्री से निकलकर विभिन्न नदियों की जलधारा को आत्मसात करते हुए गंगासागर में अपने मूलरूप में ही मिलती है ठीक उसी प्रकार उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक

विभिन्न प्रभावों को समेटे हुए भारतीय राष्ट्रीय चिंतन धारा 'विविधता में एकता' के भाव को भारतीय संस्कृति का मूल विचार मानती है। पं. दीनदयाल जी ने सांस्कृतिक अस्मिता पर जोर देकर कहा है कि, **"भारतीयता की पहचान भारतीय संस्कृति ही है। भारत की अस्मिता उसकी गौरवशाली परम्पराओं, आध्यात्मिक ज्ञान, मान्यताओं और मूल्यों में निहित है।"**[1] भारतीय संस्कृति व जीवन पद्धति अपनी श्रेष्ठ परम्पराओं को इस प्रकार संजोये हुए हैं कि इसमें सभी प्रकार की वनस्पतियों, वृक्षों, पशु-पक्षियों, नदियों, सरोवरों, पर्वतों तथा समुद्रों में देवत्व के दर्शन सहजता से परिलक्षित होते हैं। भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति से राष्ट्रीय प्रेरक बल व सामर्थ्य की उत्पत्ति होती है। इसके सन्दर्भ में अथर्ववेद में भी उल्लिखित है-

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वविद्र्स्तपो दीक्षमुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रम बलमोजश्चजातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु।।[2]

अर्थात कल्याण की रक्षा करने वाले आत्मज्ञानी ऋषि प्रारंभ में तप और दीक्षा का आचरण करने लगे। उससे राष्ट्र हुआ और बल तथा सामर्थ्य भी उत्पन्न हुआ। पं.दीनदयाल राष्ट्रीय चेतना के विषय में अत्यंत सजग दिखाई देते हैं। उनका मानना है कि सांस्कृतिक चेतना के अतिरिक्त राष्ट्र को संगठित करने हेतु उसके भीतर की चेतनता को जगाना पड़ता है। मानवीय चिति जागृत

[1] डॉ. चंद्रप्रकाश सिंह, भारतीय अस्मिता की निरंतरता (संपादित), अरुंधती वरिष्ठ अनुसंधान पीठ, प्रयागराज, प्रथम संस्करण- 2017, पृष्ठ संख्या-35

[2] अथर्ववेद 19/14/1

हो गयी तो राष्ट्रीय चैतन्य जागृत हो जायेगा। पं. दीनदयाल जी भू-सांस्कृतिक अवधारणा के सन्दर्भ में चिति को राष्ट्रीय संस्कृति का नियामक तत्व स्वीकार करते हुए कहते हैं, **"हर एक राष्ट्र की एक विशेष प्रकृति होती है, एक मूल स्वभाव होता है। हमारे राष्ट्र की जो मूल प्रकृति है उसका नाम चिति है।"**[3] भारतीय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक परंपरा में चिति के दो परस्पर अन्तः सम्बन्धी आयाम धर्म व संस्कृति का उल्लेख पं. दीनदयाल ने किया है, जो परस्पर राष्ट्र चिंतन व राष्ट्र निर्माण की दिशा में साथ-साथ चलती हैं। जिससे राष्ट्र विकास की ओर अग्रसर होता है। भारतीय मनीषियों ने साहित्य व विमर्शों के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीय चेतना को समय-समय पर जागृत करने का कार्य किया है। हिंदी साहित्य के राष्ट्रवादी लेखक जयशंकर प्रसाद ने भी अपने साहित्यिक कृतियों को राष्ट्रीय जागरण का माध्यम बनाया तथा भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता के जागरण व रक्षा हेतु देशवासियों से समर्पण की अपील करते हैं-

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारतीय।
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला, स्वतंत्रता पुकारती।।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।।[4]

भारतीय राष्ट्रीय व सांस्कृतिक एकता अटूट है, जो न केवल भौतिक पक्षों में अपितु सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों में भी

[3] डॉ. चंद्रप्रकाश सिंह, राष्ट्र दृष्टि (संपादित), अरुंधतीवरिष्ठ अनुसंधान पीट, प्रयागराज, प्रथम संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या-33

[4] जयशंकर प्रसाद, चंद्रगुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (प्रयागराज), लोकभारती संस्करण- 2009, पृष्ठ संख्या- 137

एकनिष्ठ भाव रखती है। भू-पटल पर शायद ही कोई अन्य राष्ट्र है जिसकी भौगोलिक, सामाजिक व धार्मिक विभिन्नताओं में सांस्कृतिक एकता का मूल हो। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने 1916 में कोलंबिया विश्वविद्यालय में 'कास्ट्स इन इंडिया : देयर मेकेनिज्म, जेनेसिस एंड डेवेलपमेंट' शीर्षक से आयोजित सेमिनार में भारतीय सांस्कृतिक एकता को समस्त विविधताओं का मूल मानते हुए भारतीय प्रायद्वीप की विशिष्ट संस्कृति घोषित किया है- **"I venture to say there is no country that can rival the Indian Peninsula with respect to the unity of its culture. It has not only a geographical unity, but it has over and all a deeper and much more fundamental unity- the indubitable cultural unity that cover the land from end to end"**[5]

भारतीय एवं वाह्य सभी चिंतन धाराओं का सम्यक आकलन कर, शक्ति और दुर्बलताओं को परखता हुआ, मानवीय एकात्मवाद, एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करता है जो मानव के अब तक के चिंतन अनुभवों की उपलब्धि को शीर्ष तक पहुंचाता है। एकात्मवादी दर्शन का उद्बोधन पं. दीनदयाल जी ने तब किया, जिस समय पूरा विश्व पूंजीवाद और साम्यवाद की अच्छाई और बुराई में उलझा हुआ था। उस समय पं. दीनदयाल जी ने इन दोनों विचार धाराओं को नकारते हुए एकात्म मानववाद की अवधारणा प्रस्तुत की। साम्यवाद और पूंजीवाद की निरपेक्ष वकालत करते हुए पं. दीनदयाल जी ने अपने कहा है कि, **"पूंजीवादी और साम्यवादी, दोनों प्रणालियाँ आम आदमी के**

[5] Indian Antiquary, vol. XLV May,1917 p.94

पूर्ण व्यक्तित्व और उसकी आकांक्षाओं को पूर्ण करने में विफल रही है। एक (प्रणाली) मात्र स्वार्थ, पैसे (भौतिकवाद) के पीछे भागना, जहाँ केवल एक ही कानून है, प्रतिस्पर्धा का कानून; जबकि दूसरे की पूरी योजना में एक कमजोर बेजान व्यक्तित्व, जो कठोर नियमों द्वारा विनियमित है, और कुछ भी अच्छा करने में असमर्थ, जब तक उसे निर्देशित न किया जाए। दोनों प्रणालियों ने मानवता के साथ खिलवाड़ किया है।"[6] यद्यपि पं. दीनदयाल का विचार दर्शन उपर्युक्त दोनों विदेशी विचारधाराओं से भिन्न था परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं था कि उनका किसी बाहरी पाश्चात्य विचार वस्तु से कोई दुराग्रह था बल्कि उन्होंने जीवन में प्रति संतुलन के साथ एकात्म स्थापित करने तथा इसकी तलाश अपने निज सनातनी धर्म, संस्कार व संस्कृति में किया। इन्हीं मानवीय प्रति संतुलन को अभिव्यक्ति प्रदान करता एकात्म मानववाद भारतीय संस्कृति व दर्शन के बीच से ही उपजा एक विचार है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने कभी भी इस बात का दावा नहीं किया कि उन्होंने दुनिया के सामने कोई नयी बात रखी है। अपने विचार के पक्ष में उन्होंने सदैव यह कहा है कि एकात्म मानववाद के माध्यम से भारत की सनातन संस्कृति की ही बात की गयी है। उनका ध्येय था कि समाज का आधार संघर्ष नहीं सहयोग है। एकात्म मानव दर्शन के सन्दर्भ में दीनदयाल जी का मत था कि मैं आप लोगों के सम्मुख कोई नई बात नहीं रख रहा हूँ। हमारी जो मिटटी है, इन सबके लिए जिन चीजों की आवश्यकता है और हमारे स्वभाव से जो मेल खाती हुयी चीजे हैं उन सबका एक मिश्रण,

[6] इंटिग्रल ह्यूमनिज्म, नवचेतन प्रेस, दिल्ली, 1965, पृष्ठ संख्या-76

निचोड़ ही एकात्म दर्शन है। उन्होंने देश को अपने एकात्म दृष्टिकोण द्वारा आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर करने की नई दिशा प्रदान की है, अर्थात आर्थिक व्यवहारों को आध्यात्मिक मूल्यों के साथ समावेशित कर एक खुशहाल समाज की नींव डालने का प्रयास किया। उन्होंने अपने विचार शोध में एकात्म मानववाद के सन्दर्भ में कहा है, **"मानव भगवान की उत्कृष्ट देन है, जो अपनी पहचान खो रहा है। हमें उसको सही स्थिति में फिर से स्थापित करना चाहिए, उसे उसकी महानता की पहचान, उसकी क्षमताओं को जगाने और ऊँचाइयों को प्राप्त करने के लिए, उसके दिव्य अव्यक्त व्यक्तित्व को फिर से जगाने के लिए उसे प्रोत्साहित करना चाहिए।"**[7] यह दर्शन समाज में मानवीय गरिमा को स्थापित करने का एक प्रयास है। इस मानवीय विचार का उदघाटन पं. दीनदयाल जी के श्रीमुख से 1964 में ग्वालियर मध्यप्रदेश के जनसंघ के सम्मलेन में हुआ। इन्होंने अपने विचार दर्शन के सन्दर्भ में पूंजीवाद व साम्यवाद के वैचारिक संकल्पनाओं से अलग मानव जीवन व मानव मूल्य के समग्र रूपों को शामिल किया। जहाँ पूंजीवाद ने मानव को एक आर्थिक इकाई माना और साम्यवाद ने व्यक्ति को राजनीतिक और कार्मिक इकाई माना। इसके विपरीत एकात्म मानववाद में व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र और फिर मानवता को स्थान दिया है। एकात्म मानववाद के अनुसार, व्यक्ति केवल शरीर मात्र नहीं है, इसलिए शरीर पर ठीक से विचार किया जाना चाहिए। इसके अनुसार मनुष्य का शरीर मानव मन, बुद्धि और आत्मा का

[7] एकात्म मानववाद, नवचेतन प्रेस, दिल्ली, 1965, पृष्ठ संख्या-78

मिलन है। इसलिए मानव को समग्र रूप में देखना चाहिए और यही समग्रता उसे समाज के लिय उपयुक्त और उपादेय बनाती है। उनका ये मानना था कि शरीर हमारे धर्म, जीवन और सभी कार्यों और लक्ष्यों का साधन है तथा भारतीय चिंतन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणा अर्थात् चातुर्विध एवं पुरुषार्थ के समन्वय का विचार ही एकात्म मानववाद में समाहित है। पूरे मानव का निर्माण करने वाली इन चार तत्वों में एकात्मकता अपेक्षित है क्योंकि यही एकात्मकता मानव को कर्मठता की ओर प्रेरित करके उद्यमी बना सकती है। जिससे पूरे समाज का कल्याण होगा, एकात्म दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप पर सांसद तरुण विजय ने राज्यसभा टीवी को दिए साक्षात्कार में यह कहा कि, **"राष्ट्र प्रथम, राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को शिक्षा और संस्कार मिले। इसके लिए ही सरकार की शासन की नीति होनी चाहिए और समाज तथा सरकार दोनों को परस्पर सहयोग के साथ राष्ट्र के अभ्युदय और परम वैभव के साथ कार्य करना चाहिए। एकात्म मानव दर्शन का यही स्वभाव है।"**[8]

पं. दीनदयाल उपाध्याय स्वतंत्र भारत की राजनीति को सुचारू रूप से चलाने के लिए तथा लोकतांत्रिक सूचिता को बरक़रार रखने में भारतीय दर्शन को ही सबसे उपयुक्त मानते हैं, चाहे राजनीति का सवाल हो या अर्थव्यवस्था का या समाज का। भारतीय अर्थनीति के स्वरुप और विकास को भी उन्होंने इसी दृष्टि से देखा। अपने लेख भारतीय अर्थनीति विकास की दशा में उन्होंने लिखा है कि शासन का उद्देश्य उन्योदय की

[8] दीनदयाल उपाध्याय दर्शन, राज्यसभा टीवी. (विशेष) कार्यक्रम, दिनांक- 25 सितंबर 2018

परिकल्पना के अनुरूप होना चाहिए तथा शासन को व्यापार नहीं करना चाहिए और व्यापारी के हाथ में शासन नहीं आना चाहिए। भारतीय गणतंत्र के निर्माण के पश्चात् दीनदयाल उपाध्याय ने इस मत पर ज्यादा जोर दिया कि भारत के विकास के लिए ग्रामीण विकास और लघु उद्योगों को बढ़ावा देने की जरूरत है। आज भारत सरकार का विकासवादी मूलमंत्र 'सबका साथ सबका विकास' उन्हीं के अन्त्योदय की संकल्पना पर आधारित है। जिसका उद्देश्य समाज के अंतिम व्यक्ति का उद्धार था। पं. दीनदयाल जी ने अपने विकासवादी सूत्र के तहत 'आर्थिक लोकतंत्र' की परिभाषा प्रस्तुत की। अपनी पुस्तक 'Two Plans: Promises and Performance, Prospectus' और 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दशा' में इन्होंने भारतीय अर्थायाम की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। जिसमें परम्परागत स्वरोजगार को सफल बनाने तथा निजी व सार्वजनिक क्षेत्र के कृत्रिम विभाजन से दूरी बनाये रखने की बात की है। अंत्योदय की राष्ट्रीय संकल्पना का खाका प्रस्तुत करते हुए पं. दीनदयाल जी ने त्रि-सूत्रीय समीकरण प्रस्तुत किया। उनका मानना था कि गरीबी केवल अर्थाभाव की गरीबी नहीं है अपितु इसमें त्रि-सूत्रीय चरित्र को भी ध्यान देने की जरूरत है, जिसमें उत्पादन में वृद्धि, वितरण में समानता तथा उपभोग में संयम होना बहुत जरुरी है। पं. दीनदयाल जी ने अर्थतंत्र में रुपये-पैसे की महत्ता को कमतर करते हुए श्रम को तरजीह दिया है। उनका मत है कि, **"समाज के मानदंड ऐसे बनाये जाय कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके। पैसे से मूल्य आँकने का परिणाम यह होगा कि दुर्बल की रक्षा ही नहीं हो पायेगी। शरीर शक्ति में दुर्बल अपनी बुद्धि का उपयोग कर**

धूर्तता से धन कमाकर अपनी रक्षा का मूल्य कमाएगा।"[9] इस प्रकार श्रम और पारिश्रमिक दोनों के मूल्यांकन का आधार रूपए-पैसे नहीं होने चाहिए क्योंकि श्रम की प्रतिष्ठा उसके पारिश्रमिक में नहीं अपितु उसके धर्मत्व में है। इस प्रकार किसी व्यक्ति को श्रम के बदले में प्राप्त पारिश्रमिक प्रतिदान मात्र है, जो उसके मूल्याङ्कन का आधार नहीं हो सकता है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय शासन व सत्ता के साथ ही साथ सामाजिक व आर्थिक व्यवस्थाओं के विकेन्द्रीकरण के पक्षधर थें। पं. दीनदयाल ने पूंजीवाद के मूल तत्व अतिकेंद्रियकरण के खिलाफ विकेन्द्रीकरण को सार्थक पहल मानते हैं। एकात्म मानववाद में पं. दीनदयाल जी ने मानव के सम्पूर्ण विकास में समाज और राष्ट्र के कल्याण को आधारित करते हुए राष्ट्रीय अर्थनीति हेतु विकेंद्रीकरण के पक्ष में कहा है कि, **"स्वदेशी और विकेंद्रीकरण, वर्तमान परिस्थितियों में ये दो शब्द अर्थनीति का संक्षेप में वर्णन करने के लिए उपयुक्त है।"**[10] उनकी अर्थनीति के अनुसार विकेन्द्रीकरण के प्रभाव में यदि पूंजीवादी ताकतों को धन सृजन का अवसर नहीं मिलेगा तो उत्पादन धीमा होगा, जिससे ग्रामीण कुटीर उद्योगों के उत्थान को बल मिलेगा और गाँव स्वावलंबी होंगे। प्रेरणा प्राप्त व्यक्ति अधिक से अधिक उच्च गुणवत्ता वाले वस्तुओं का निर्माण करेंगे। यह निर्माण हमारी पुरातन संस्कृति के मूलभूत उपादानों के अनुरूप होगी। यही कारण है कि पं. दीनदयाल विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों के

[9] डॉ. श्यामबाबू गुप्त, श्रद्धेय दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म दर्शन के विभिन्न आयाम (संपादित), स्वरांजलि प्रकाशन, 2018, पृष्ठ संख्या- 46
[10] एकात्म मानववाद, नवचेतन प्रेस, दिल्ली, 1965, पृष्ठ संख्या-78

राष्ट्रीयकरण के खिलाफ थें। उनका मत था कि मेहनतकश लोगों को अपनी बुनियादी जरूरतों के लिए राज्य पर आश्रित रहने की जरुरत नहीं है। उनका मत है कि जिस प्रकार ग्राम पंचायत भारतीय लोकतंत्र की प्राथमिक राजनीतिक इकाई है, उसी प्रकार ग्रामीण स्वावलंबन व कुटीर उद्योगों का विकास अर्थनीति की प्रारंभिक इकाई है। पं. दीनदयाल इस प्राथमिक अर्थ इकाई के द्वारा राष्ट्रीय अर्थनीति दिशा निर्धारित करने की बात करते हैं। आर्थिक विकेन्द्रीकरण के इस बिंदु पर पं. दीनदयाल महात्मा गाँधी जी के इस कथन का समर्थन करते हैं, **"मैं विशाल उत्पादन चाहता हूँ परन्तु विशाल जनसमूह के द्वारा।"**[11] इस प्रकार ग्रामीण विकास के द्वारा राष्ट्रीय विकास की परिधि को दीनदयाल जी ने चिन्हित करने का प्रयास किया। जिसमें उच्च उत्पादन हो, उत्पादित वस्तुओं का समान वितरण हो, मितव्ययी उपभोग हो तथा सरकारी तंत्र का न्यूनतम हस्तक्षेप हो। इस प्रकार दीनदयाल ने ऐसे अर्थतंत्र की वकालत की जहाँ राष्ट्र का आर्थिक विकास ग्रामीण आर्थिक विकास से निर्धारित होता हो।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय परंपरा को एकात्म मानववाद से परिभाषित किया जिसमें राज्य की भूमिका को निर्धारित करते हुए, 'राज्य के उत्स' की खोज भारतीय परंपरा में करने की बात कही है। धर्म को राज्य का नियामक तत्व मानते हुए कहते हैं कि जब राज्य रूपी कल्पना नहीं थी न ही राजा तथा न ही उसका कोई दंड विधान था, तब धर्म ही एक

[11] डॉ. श्यामबाबू गुप्त, श्रद्धेय दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म दर्शन के विभिन्न आयाम (संपादित), स्वरांजलि प्रकाशन, 2018, पृष्ठ संख्या- 50

मात्र केन्द्रीय तत्व था जिसके आरोहण में लोग एक दूसरे की रक्षा करते थें अतः धर्म की राज्य के उत्पत्ति में विशिष्ट भूमिका है। पं. दीनदयाल जी मानते हैं कि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व समाज की उत्पत्ति हुई और इसी के सामानांतर धर्म के उत्स को देखा जा सकता है, इसीलिए धर्म को समाज का सहोदर मानते हुए कहते हैं कि, **"समाज प्राथमिक संगठन है और राज्य द्वितीयक। पहले समाज बना और वह समाज बिना राज्य के चलता रहा तथा समाज को चलाने वाली उस व्यवस्था को धर्म कहा गया है।[12]"** पं. दीनदयाल जी राज्य को समाज का अनिवार्य अंग मानते हुए समाज रूपी संस्था का नियामक माना है, जो लोगो को अधर्म करने से रोकता है तथा अच्छे कर्म करने वाले लोगों को प्रोत्साहित करता है। अर्थात् वर्तमान संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि राज्य का मूल कर्तव्य कानून और व्यवस्था का निर्माण करना तथा सभी सामाजिक प्राणियों द्वारा उस नियम के अनुरूप आचरण करने की व्यवस्था करना है। इस कर्तव्यपथ पर राज्य समाज में धर्म की चेतना का सहकारी होता है। यही कारण है कि पं. दीनदयाल जी ने राज्य के राजा व प्रशासक को भी धर्म का नियामक न मानते हुए केवल सहकारी माना है। उन्होंने धर्म को भारतीय प्रज्ञा से निकला हुआ एक मौलिक शब्द स्वीकार किया है, जिसकी व्याख्या दो स्तरों पर की जा सकती है- प्रथम- राज्य विहीन धर्म व्यवस्था तथा दूसरा धर्म-राज्य की व्यवस्था। इसका

[12] डॉ. महेंद्र शर्मा, पूर्व सांसद एवं अध्यक्ष एकात्म मानववाद दर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान द्वारा दिनांक 24 फ़रवरी 2015 को इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान|

तात्पर्य 'राज्य विहीन धर्म व्यवस्था में धर्म-राज्य की स्थापना करना है। उनका मानना है कि धर्म को इसलिए नियामक माना गया है क्योंकि राज्य और राजा दोनों को निरंकुश होने की छूट नहीं दी जा सकती कि वे मनमानी से नियम व कानून बनाए तथा राज्य को अपनी निरंकुशता की सनक में प्रवाहित कर दें। यही कारण है कि पं. दीनदयाल जी विधि के शासन की बात करते हुए कहते हैं, **"धर्म-राज्य का निकटतम अंग्रेजी अनुवाद है- 'रुल ऑफ़ लॉ'। इसका मतलब है वह राज्य जहाँ पर कांस्टीट्यूशनल लॉ है और रूल ऑफ़ लॉ है, वहाँ व्यक्ति का नहीं विधि का शासन है।"**[13] पं. दीनदयाल जी ने राज्य का कर्तव्य समाज का प्रतिनिधित्व करना बताया है लेकिन समाज का एकीकरण करना राज्य का कार्य नहीं, उसके लिए राज्य के अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं जैसे- पंचायत की संस्था, जाति की संस्था, उपासना पद्धतियों की संस्थाएँ इत्यादि का अभ्युदय भी भारतीय चिति से हुआ है। जिनका कार्य भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक एकता को सुदृण करना है जिससे राज्य और राष्ट्र की समेकित संकल्पना को प्रतिबिंबित किया जा सके। इन सभी को समवेत करते हुए भारतीय सांस्कृतिक अखंडता की प्रौणता को आगे बढ़ाते हुए राज्य अपनी समेकित भूमिका का निर्वहन भारतीय संविधान की प्रतिबिंब में कर रहा है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने शिक्षा को राष्ट्र निर्माण व एकीकरण का सशक्त माध्यम स्वीकार किया है। शिक्षा का अर्थ

[13] डॉ. महेश चंद्र शर्मा, एकात्म मानववाद:राजनीतिक आयाम (लेख), एकात्म मानववाद विविध आयाम (संपादित), अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, प्रयागराज, प्रथम संस्करण-2016, पृष्ठ संख्या-33

है 'समर्थ होना' है, अर्थात शिक्षा हमें समर्थ बनाती है। जिससे मनुष्य विपरीत परिस्थितियों में भी आपसी सामंजस्य व सहयोग के द्वारा विकास के पथ पर अग्रसर हो सके। ऋग्वेद में भी शिक्षा का अर्थ 'देने' के सन्दर्भ में बताया है। कौटिल्य ने भी शिक्षा के उद्देश्य को चिन्हित करते हुए कहा है कि, **"धर्म-अविरुद्ध जीवन की स्थापना ही शिक्षा का सहज उद्देश्य है।"**[14] पं. दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद की परिधि में राष्ट्र की मूल प्रकृति, विवेक और राष्ट्र की आत्मा के रूप में 'राष्ट्र की चिति' को स्थान प्रदान किया है। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का अनुशीलन राष्ट्र चिति के सानिध्य में किया जा सकता है, जिसके लिए शिक्षा एक अनिवार्य शर्त है। दीनदयाल जी ने अपनी राष्ट्रीय सांस्कृतिक अस्मिता को विश्व जगत में प्रसारित करने में शिक्षा के महत्त्व को चिन्हित करते हुए कहा है, **"भारत की आत्मा को यदि समझना है तो उसे राजनीति अथवा अर्थनीति के चश्में से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखना होगा। विश्व को यदि हम कुछ सीखा सकते हैं तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्तव्य प्रधान जीवन की भावना की शिक्षा दे सकते हैं।"**[15] इस प्रकार शिक्षा एक उत्तम उपादान है जो मनुष्य के सशक्तिकरण में अग्रणी भूमिका का निर्वहन करती है। शिक्षा द्वारा मनुष्य के भीतर की मौलिकता

[14] डॉ. चंद्रप्रकाश सिंह, भारतीय अस्मिता की निरंतरता (संपादित), अरुंधती वरिष्ठ अनुसंधान पीठ, प्रयागराज, प्रथम संस्करण- 2017, पृष्ठ संख्या-95

[15] प्रो. कल्पलता पाण्डेय, भारतीय अस्मिता की शिक्षा में निरंतरता (लेख), भारतीय अस्मिता की निरंतरता (संपादित), प्रयागराज, प्रथम संस्करण-2017,पृष्ठ संख्या-93

का प्रकटीकरण किया जा सकता है जिसमें गुरु अर्थात शिक्षक की भूमिका ईश्वर तुल्य होती है। वैदिक युग से ही भारतवर्ष में गुरु को साक्षात् परमेश्वर का स्वरुप स्वीकार किया गया है।हमारे प्राचीन पौराणिक ग्रंथों में भी गुरु की महिमा का बड़े ही मार्मिक रूप में चित्रण किया गया है। श्री गुरु गीता में भगवान शिव स्वयं गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं-

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तनिरोधकः।
अंधकारनिरोधीत्वाद गुरुरित्यभिधीयते।।[16]

यहाँ 'गु' शब्द का अर्थ अंधकार और 'रु' का अज्ञान रूपी अंधकार का नाश है अर्थात् गुरु का संबंध अज्ञानता रूपी अंधकार के नाश से ज्ञान रूपी प्रकाश के दैदीव्यमान रूप से है। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने प्राचीन वैदिक युग की इसी गुरु शिष्य परंपरा को उदीप्त करने की बात कही है तथा यह बताया कि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षा और शिक्षक का एकात्म ही मनुष्य को श्रेष्ठ की श्रेणी प्रदान करते हैं। राष्ट्र को प्राणवान बनाये रखने में शिक्षा एक महत्वपूर्ण घटक है, यदि पाठ्यक्रम, पाठ्य सामग्री, पाठन पद्धति, शिक्षा के तंत्र, सन्दर्भ व उद्देश्य तथा शिक्षक, शिक्षणतंत्र व विद्यार्थी आदि सभी अनिवार्य तत्वों का अभिव्यक्तिकरण सुचारू ढंग से किया जाय तो राष्ट्र की चिति अर्थात राष्ट्रीय चेतना का अस्तित्व प्रवीण होगा। अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का कार्य व्यक्ति को धर्मानुरूप आचरण करने के लिए प्रवृत करना है जो शिक्षा के व्यष्टि और समष्टि रूप में सामंजस्य और सामरस्य का प्रणिपात करती है। शिक्षा का यह स्वरूप मनुष्य को जिज्ञासु व समर्थ्य

[16] Sanskritdocuments.org/doc_giitaa

बनाती है। यह मानवीय सद्गुणों यथा- इन्द्रिय-निग्रह, विनय, अहिंसा, मनसा वाचा कर्मणा शुद्धि, दयालुता, क्षमा, एकात्मकता इत्यादि के सृजन व विकास का मुख्य कारण है। राष्ट्र निर्माण के क्रम में पं. दीनदयाल जी ने शिक्षा को अभूतपूर्व कड़ी माना तथा मानव कल्पना को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि, **"व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि इन चारों की एकात्मकता का नाम है 'मानव'। मानव से परमेष्टि को निकाल दो, मानव में से समष्टि को निकाल दो, मानव में से व्यष्टि को निकाल दो तो मानव विकलांग हो जायेगा। इसलिए जिन नीतियों का निर्माण करना है, जो कानून बनाना है, वह इस एकात्म मानव की शिक्षा कैसी हो, एकात्म मानव की अर्थव्यवस्था कैसी हो, इस एकात्म मानव की न्याय व्यवस्था कैसी हो तथा इस एकात्म मानव की सब व्यवस्थाएँ कैसी हों इनका विचार करे और अनुसंधान करे।"**[17] इस प्रकार हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति एकात्म मानव के इन चतुर्थांश व्यष्टि में ही उलझ कर रह गयी है जबकि प्राचीन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य व्यक्ति को इतना समर्थ बनाना था कि वह स्वयं में ही इस एकात्म मानव का निर्माण कर सके। इन्हीं तत्वों के अवलोकन में पं. दीनदयाल जी ने शिक्षा के सरकारीकरण का विरोध किया। उनका मानना था कि शिक्षा देने का कार्य सरकार के हाथों में नहीं दिया जा सकता। ये काम समाज पर छोड़ा जा सकता है। उनका मानना था की सरकार उन्हीं क्षेत्रों

[17] डॉ. चंद्रप्रकाश सिंह, भारतीय अस्मिता की निरंतरता (संपादित), अरुंधती वरिष्ठ अनुसंधान पीठ, प्रयागराज, प्रथम संस्करण- 2017, पृष्ठ संख्या-111

में अपना हस्तक्षेप करे और कार्य करे जिन क्षेत्रों में समाज या नीजी क्षेत्र जोखिम उठाने को राजी न हो। इस प्रकार यदि भारतवर्ष को ज्ञान के क्षेत्र में विश्वगुरु के स्थान पर पुनर्स्थापित करना है तो शिक्षा को भारतीय प्राच्य दृष्टि के अनुरूप परिवर्तित करना अनिवार्य है। जिससे प्रशिक्षु व्यक्ति स्वयं का, समाज का, इस प्रकृति तथा परमसत्ता का अंश बनकर सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय के लक्ष्य को हासिल कर सके।

इस प्रकार पं. दीनदयाल ने अपने विचार दर्शन में मानव मात्र को केंद्र में रखते हुए अपने विचार दर्शन को व्यावहारिक आधार प्रदान किया। अधिक से अधिक जन भागीदारी को सुनिश्चित करने हेतु लोकमत परिष्कार पर ज्यादा जोर देने की बात की। इन्होंने लोकमत को बढ़ावा देने के लिए यह कहा कि, समाज का यह कर्तव्य होना चाहिए कि लोगों को जाति व धर्म के प्रति जागरूक करें, जिससे लोगों में एक दूसरे के प्रति परस्पर सद्भाव व सम्मान रहे तथा आपसी मनमुटाव न हो। इन सबके लिए सरकार की आर्थिक नीतियाँ भी प्रभावी भूमिका का निर्वहन करती हैं। अतः हमारी आर्थिक नीतियाँ भी इस प्रकार होनी चाहिए कि किसी प्रकार की आपसी विसंगति न दिखाई पड़े। इन सबके बावजूद ही अच्छे समाज का निर्माण संभव है। यदि अच्छे समाज का निर्माण होगा तो अच्छी राजनीति होगी, अच्छी राजनीति होगी तो राष्ट्र का निर्माण सही दिशा में होगा और देश प्रगति की ओर उन्मुख होगा। इस प्रकार पं. दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद एक वैचारिक अनुष्ठान मात्र नहीं है, बल्कि इसमें राजनीति, समाजनीति, अर्थव्यवस्था, उद्योग, शिक्षा और लोकनीति पर व्यापक और व्यावहारिक नीति निर्देश शामिल है। पं. दीनदयाल जी के राष्ट्र निर्माण की

इसी विचार दर्शन के अभिकेंद्रण में देश विकास के पथ पर अग्रसर है। इस विचार दर्शन के अमरत्व को आत्मसात करते हुए पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के पुण्य अंत्येष्टि के अवसर पर श्री अटल विहारी वाजपेयी ने समस्त भारतवासियों का आह्वान करते हुए, पंडित जी के रक्त की एक-एक बूँद को माथे का चंदन बनाकर धेय्य पथ पर अनवरत अग्रसर होने की बात कही। वाजपेयी जी के रुधित कंठों से पं. दीनदयाल जी के संबंध में कहे गए उक्त कथन उन्हें तथा उनके विचार दर्शन (एकात्म मानववाद) की, भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक अखंडता में महत्त्व को परिलक्षित करते हैं-

नंदा दीपक बुझ गया, हमें अपने जीवन-दीपक जलाकर अन्धकार से लड़ना होगा।
सूरज छिप गया, हमें तारों की छाया में अपना मार्ग ढूँढ़ना होगा।
हमारा मित्र, सखा, नेता और मार्गदर्शक चला गया, हमें उनकी पवित्र स्मृति को
ह्रदय में संजोकर धेय्य पथ पर आगे बढ़ना होगा।[18]

[18] श्री अटल विहारी वाजपेयी, हम चुनौती स्वीकार करते हैं (लेख), पंडित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन (संपादित), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, पहली आवृति-2018, पृष्ठ संख्या-95